



ISSN Print: 2394-7500  
ISSN Online: 2394-5869  
Impact Factor: 5.2  
IJAR 2020; 6(3): 483-487s  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
Received: 18-01-2020  
Accepted: 23-02-2020

**Dr. Preeti Srivastava**  
Assistant Professor,  
Department of Sanskrit,  
Vivekananda College,  
University of Delhi, Delhi,  
India

**Dr. Jyoti**  
Assistant Professor,  
School of Sanskrit and Indic  
Studies, Jawaharlal Nehru  
University, Delhi, India

**Dr. Asheesh Kumar**  
Assistant Professor,  
Department of Sanskrit,  
Rajdhani College, University  
of Delhi, Delhi, India

**Correspondence Author:**  
**Dr. Asheesh Kumar**  
Assistant Professor,  
Department of Sanskrit,  
Rajdhani College, University  
of Delhi, Delhi, India

## विशिष्टाद्वैतानुसार प्रत्यक्ष-विमर्श

**Dr. Preeti Srivastava, Dr. Jyoti and Dr. Asheesh Kumar**

प्रस्तावना

साक्षात्कार प्रमा को प्रत्यक्ष कहते हैं।<sup>[1]</sup> साक्षात्कारी प्रमा वह सम्यक् ज्ञान होता है जो साक्षात् अर्थात् अव्यवहित होता है। अव्यवहित ज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान या प्रमा से है जिसमें कोई और ज्ञान साधन या सहायक नहीं बनता। हम जानते हैं कि अनुमान प्रमाण से जो अनुमिति होती है उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान- जैसे कि वहि के अनुमान में धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान साधन या माध्यम बनता है जिसके आधार पर ही वहि जैसे पदार्थ का अनुमान ज्ञान होता है।<sup>[2]</sup> इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञारूपी ज्ञान में भी- जैसे कि यह वहीं वृक्ष है जो मैंने कल भी देखा था- वृक्ष के वर्तमान काल में प्रत्यक्ष के साथ-साथ वृक्ष के ही पहले के प्रत्यक्ष ज्ञान की स्मृति माध्यम, साधन या सहायक बनती है। टीकाकार श्री निवासाचार्य स्पष्ट करते हैं कि प्रत्यक्ष के लक्षण में आचार्य वेदान्तदेशिक ने ज्ञान की जगह जो प्रमा शब्द का प्रयोग किया है वह इसलिए किया है कि प्रत्यक्ष का लक्षण कहीं भ्रम में कहीं घटित न हो जाए, अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष के लक्षण की प्रत्यक्ष भ्रम में अतिव्याप्ति न हो जाए।<sup>[3]</sup> यह साक्षात्त्व नामक गुण प्रत्यक्ष ज्ञान में बताया गया है। ये कोई प्रत्यक्ष ज्ञान का कोई विशेष धर्म है जो अन्य प्रकार के ज्ञानों में, जैसे कि अनुमान में नहीं पाया जाता और यह धर्म जाति रूप भी हो सकता है और उपाधि रूप भी हो सकता है। क्योंकि वेदान्तदेशिक भी रामानुजाचार्य की तरह ज्ञान को द्रव्य मानते हैं<sup>[4]</sup> और क्योंकि उस ज्ञान रूपी द्रव्य का साक्षात् एक विशेष धर्म या गुण है। इसलिए द्रव्य रूप ज्ञान का साक्षात्त्व कहे जाने वाले गुण विशेष रूपी जाति से कोई विरोध नहीं बनता।

प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों का मूल स्तम्भ है। प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग सभी दर्शनों में साक्षात् रूप से प्राप्त होने वाले ज्ञान और उसके साधन दोनों के लिए होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष 'प्रमा' भी है और 'प्रमाण' भी। न्यायसूत्र में महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा है- 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'<sup>[5]</sup> अर्थात् इन्द्रिय (चक्षुरादि) तथा रूपादि अर्थ (विषय) के संयोगादि सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न ज्ञान, शाब्दबोधातिरिक्त अर्थात् अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष लक्षण में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि प्रत्यक्ष को दूसरे अनुमित्यादिक ज्ञानों से भिन्न किया जा सके। वात्स्यायन<sup>[6]</sup> ने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार दी है - 'आत्मा मनसा सयुज्यते। मन इन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेनेति।' यद्यपि यहाँ प्रत्यक्ष के लिए तीन सन्निकर्ष है किन्तु उसमें अन्तिम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण माना गया है क्योंकि प्रथम दो सन्निकर्षों की आवश्यकता तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त स्थलों में भी होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान के शब्द होने का प्रतिषेध करने के लिए प्रत्यक्ष लक्षण में 'अव्यपदेश्य' कहा गया है। वाचस्पति न्यायतात्पर्यटीका में कहते हैं कि इस पद से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ग्रहण होता है।<sup>ख.</sup> 'अव्यभिचारी' का प्रयोग अप्रमा के निराकरण करने के लिए है ज्ञान तो अप्रमा भी होता है जैसे मरुस्थल में मृगमरीचिका का ज्ञान। किन्तु यह व्यभिचारि ज्ञान होता है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान अव्यभिचारि होना चाहिए।

‘व्यवसायात्मक’ पद का प्रयोजन बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जब दूर से ही चक्षु द्वारा अर्थ (विषय) को देखता हुआ व्यक्ति निश्चय नहीं करता कि यह धूम है या धूल है - इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान भी प्रत्यक्ष न हो जाए अतः व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया गया है।<sup>[8]</sup> टीकाकार वाचस्पति के अनुसार व्यवसायात्मक पद से सविकल्पक प्रत्यक्ष को कहा गया है।<sup>[9]</sup> अत्रंभट्ट भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ‘प्रत्यक्ष’ है। तथा वह निर्विकल्पक-सविकल्प के भेद से दो प्रकार का है। इस प्रकार न्याय दर्शन में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यपदेश, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है।

प्रत्यक्ष-लक्षण

वेदान्तदेशिक

साक्षात्कार प्रमा को प्रत्यक्ष कहते हैं।<sup>[10]</sup> साक्षात्कारी प्रमा वह सम्यक् ज्ञान होता है जो साक्षात् अर्थात् अव्यवहित होता है। अव्यवहित ज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान या प्रमा से है जिसमें कोई और ज्ञान साधन या सहायक नहीं बनता। हम जानते हैं कि अनुमान प्रमाण से जो अनुमिति होती है उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान- जैसे कि वह्नि के अनुमान में धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान साधन या माध्यम बनता है जिसके आधार पर ही वह्नि जैसे पदार्थ का अनुमान ज्ञान होता है।<sup>[11]</sup> इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञारूपी ज्ञान में भी- जैसे कि यह वही वृक्ष है जो मैंने कल भी देखा था- वृक्ष के वर्तमान काल में प्रत्यक्ष के साथ-साथ वृक्ष के ही पहले के प्रत्यक्ष ज्ञान की स्मृति माध्यम, साधन या सहायक बनती है। टीकाकार श्री निवासाचार्य स्पष्ट करते हैं कि प्रत्यक्ष के लक्षण में आचार्य वेदान्तदेशिक ने ज्ञान की जगह जो प्रमा शब्द का प्रयोग किया है वह इसलिए किया है कि प्रत्यक्ष का लक्षण कहीं भ्रम में कहीं घटित न हो जाए, अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष के लक्षण की प्रत्यक्ष भ्रम में अतिव्याप्ति न हो जाए।<sup>[12]</sup> यह साक्षात्त्व नामक गुण प्रत्यक्ष ज्ञान में बताया गया है। ये कोई प्रत्यक्ष ज्ञान का कोई विशेष धर्म है जो अन्य प्रकार के ज्ञानों में, जैसे कि अनुमान में नहीं पाया जाता और यह धर्म जाति रूप भी हो सकता है और उपाधि रूप भी हो सकता है। क्योंकि वेदान्तदेशिक भी रामानुजाचार्य की तरह ज्ञान को द्रव्य मानते हैं<sup>[13]</sup> और क्योंकि उस ज्ञान रूपी द्रव्य का साक्षात् एक विशेष धर्म या गुण है। इसलिए द्रव्य रूप ज्ञान का साक्षात्त्व कहे जाने वाले गुण विशेष रूपी जाति से कोई विरोध नहीं बनता।

साधारण शब्दों में जैसे किसी नील जाति व उपाधि घट का उसके गुण नीलत्व के साथ पूरी सङ्गति बैठती है और कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान रूप द्रव्य का साक्षात्त्व रूप जाति के साथ कोई विरोध न होने के कारण साक्षात्त्व जाति रूप में भी सङ्गति बनते हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई प्रत्यक्ष ज्ञान मेरा हो या किसी दूसरे या तीसरे व्यक्ति का, उस प्रत्यक्ष प्रमा में साक्षात्त्व अर्थात् अव्यवहित होना, यह (धर्म) (साक्षात्त्व) इन सभी के प्रत्यक्षों में विद्यमान रहता है। यह उपर्युक्त साक्षात्त्व धर्म जाति के साथ-साथ उपाधि में भी मानते हैं। उपाधि रूप से तात्पर्य यह है कि ये साक्षात्त्व किन्हीं

विशेष परिस्थितियों में मिलता है। इस बात को इस तरह समझा जा सकता है उपर्युक्त रूप में परिभाषित प्रत्यक्ष किसी अन्य ज्ञान रूपी साधन से उत्पन्न ज्ञान जैसे कि अनुमिति से भिन्न होता है और स्मृति से भी भिन्न होता है इसलिए इसको विशेष परिस्थिति में उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष (अर्थात् उपाधि रूप) ज्ञान माना जाता है।<sup>[14]</sup>

प्रत्यक्ष की वेदान्तदेशिक द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की परिभाषा में एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने ‘साक्षात्कारी प्रमा’ शब्द का प्रयोग किया है इसके स्थान पर ‘इन्द्रियज’ शब्द का प्रयोग नहीं किया, यह स्पष्ट है कि ऐसा उन्होंने इसलिए नहीं किया क्योंकि वह योगियों के प्रत्यक्ष और ईश्वर का भी प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटियों में लाना चाहते हैं।<sup>[15]</sup> ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी नेत्रादि इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार यह भी विदित है कि योगी केवल वर्तमान की वस्तुओं को ही नहीं बल्कि अतीत और भविष्य की वस्तु या घटनाओं को साक्षात् और बिना किसी इन्द्रिय की सहायता के देख सकते हैं।

प्रत्यक्ष के लक्षण में वेदान्तदेशिक ने साक्षात्त्व को जो ‘ज्ञानस्वभावविशेषः’ कहा है, उससे तात्पर्य यह है कि साक्षात्त्व ज्ञान का ऐसा धर्म विशेष है।<sup>[16]</sup> जो शब्दों में नहीं कहा जा सकता लेकिन फिर भी जिसकी विद्यमानता या सत्ता का साक्षी व्यक्ति का अपना आत्म ज्ञान होता है। हमें हमेशा यह पता चल जाता है कि हमारा कोई ज्ञान साक्षात् अर्थात् अव्यवहित है कि नहीं, लेकिन यह पता कैसे चलता है? वेदान्तदेशिक कहते हैं कि क्योंकि ज्ञान आत्मा में होता है अर्थात् ज्ञान का आश्रय आत्मा है और आत्मा स्वप्रकाश होने की वजह से अपने और अपने ज्ञान का साक्षी है कि उसे होने वाला कोई ज्ञान साक्षात् है, कि नहीं।

यहाँ स्वप्रकाशत्व के बारे में कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि आत्मा को जब स्वप्रकाश कहा जाता है तो उसका तात्पर्य यह होता है कि आत्मा चेतन होने की वजह से न केवल प्रकाशक है बल्कि स्वप्रकाश होने की वजह से अपनी सत्ता को और अपने किसी भी ज्ञान की साक्षी बनने के साथ-साथ प्रकाशित करती है।<sup>[17]</sup> न्याय-वैशेषिक दर्शन में तो ‘मैं वृक्ष को देखता हूँ’- इन शब्दों में अभिव्यक्त पूरे ज्ञान में ‘यह वृक्ष है’, केवल इतना ही ज्ञान पहले क्षण वाले व्यवसाय में होता है; मैं इस वृक्ष को जानता हूँ, यह ज्ञान बाद में आने वाले अनु-व्यवसाय में होता है<sup>[18]</sup> लेकिन रामानुजाचार्य का अनुकरण करते हुए वेदान्तदेशिक का अभिप्राय यह है कि उदाहरण के रूप में पहले व्यवसाय में जो मुझे तथाकथित ‘यह वृक्ष है’ ज्ञान होता उसका पूरा अभिव्यक्त रूप है कि मैं वृक्ष को देखता हूँ। नैयायिकों के अनुसार यह कैसे हो सकता है कि मैं वृक्ष को देखूँ लेकिन मुझे यह पता न हो कि वृक्ष को देखने वाला मैं स्वयं हूँ या मेरा आत्मा है। इसी प्रकार जब मैं प्रत्यक्ष में वृक्ष को साक्षात् अर्थात् बिना किसी अन्य ज्ञान के सहायता के बिना देखता हूँ तो मुझे अर्थात् मेरे स्वप्रकाश साक्षी आत्मा को पता होता है कि वह स्वयं ज्ञाता है और प्रत्यक्ष ज्ञान भी उसी का है।

प्रत्यक्ष-लक्षण का पदकृत्यः टीकाकार श्रीनिवासाचार्य

वेदान्तदेशिक साक्षात् प्रमा को प्रत्यक्ष कहते हैं। वेदान्तदेशिक उसके

साक्षत्व रूप तथा उपाधि रूप को स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष रूप में पुनः प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जो ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान से भिन्न तथा स्मृति भिन्न हो वह ज्ञान अपरोक्ष अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।<sup>[19]</sup> इसी लक्षण का पदकृत्य करते हुए निवासाचार्य कहते हैं -

ज्ञानकरणकज्ञानान्यत्वे सति- प्रत्यक्ष के लक्षण में यदि "ज्ञानकरणकज्ञानान्यत्वे सति" पद न रखा जाता तो अनुमिति तथा शब्द में यह लक्षण अतिव्याप्त होता अर्थात् जब प्रथम बार ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होगा तो अनुमान में तो अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि अनुमान के लिए पहले प्रत्यक्ष आवश्यक है और शब्द में भी अतिव्याप्ति न हो सके इसके लिए ज्ञान से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान से भिन्न कहा गया क्योंकि शब्द प्रमाण में ज्ञात होता है कि "अमुकश्रुति अमुक कहती है" किन्तु प्रत्यक्ष में सबकुछ प्रथम बार होता है। इसी मत को निवासाचार्य अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि अनुमान तथा शब्द में अतिव्याप्ति तब होगी जब पद- पदार्थ से जन्य ज्ञान होगा<sup>[20]</sup> और ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष में नहीं होता। किन्तु यह पद न रखा जाता तो अनुमान तथा शब्द में अतिव्याप्ति होगी अतः अतिव्याप्ति के निवारणार्थ यह पद "ज्ञानकरणकज्ञानान्यत्वे सति" रखा गया।<sup>[21]</sup>

स्मृतिभिन्नत्व- स्मृति में अतिव्याप्तिवारण के लिए प्रत्यक्ष लक्षण<sup>[22]</sup> में 'स्मृतिभिन्नत्व' पद रखा<sup>[23]</sup> गया क्योंकि स्मृति<sup>[24]</sup> के लिए भी पूर्वज्ञान की आवश्यकता होती है।

यह प्रत्यक्ष संस्कार जन्य भी नहीं होता क्योंकि संस्कार जन्य होने पर प्रत्यक्षिज्ञा प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति होगी तथा प्रत्यक्ष को केवल इन्द्रिय जन्यत्व कहने पर ईश्वर प्रत्यक्ष तथा योगी प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व का अभाव होगा अर्थात् अव्याप्ति होगी। इसलिए निष्कर्षतः 'जन्यज्ञानत्वप्रत्यक्षत्वम्' इस प्रकार लक्षण कहा गया इसमें न अव्याप्ति होगी न अतिव्याप्ति।<sup>[25]</sup>

वेदान्तदेशिक का यह मत विष्णुचित्त, पराशर भट्टारक गुरु और वरदविष्णु मिश्र के मतों से समर्थन प्राप्त करता है, जिसका वर्णन निम्नलिखित है-

सर्वप्रथम विष्णुचित्त अपने 'प्रमेय-संग्रह' नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं-"साक्षादनुभवः प्रत्यक्षम्। साक्षात्वं जातिः"<sup>[26]</sup> अर्थात् साक्षात् अनुभव को प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ रामानुज वेदान्त में 'चैतन्य' गुण नहीं है, अपितु एक द्रव्य या द्रव्य का गुण है। जब चेतना 'साक्षात्' से लक्षित होती है तो वह प्रत्यक्ष हो जाती है। इस साक्षात् ज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं।

'पराशर भट्टारक गुरु' अपने ग्रन्थ 'तत्त्वरत्नाकर' में प्रत्यक्ष का लक्षण देते हुए कहते हैं कि 'साक्षात् अनुभव प्रत्यक्ष' है। साक्षात् अनुभव से तात्पर्य है 'अपरोक्ष' अर्थात् व्यवहार सम्बन्धी ज्ञानजन्यता का न होना ही परोक्ष भिन्नता अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान है।<sup>[27]</sup>

उपर्युक्त लक्षण में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि अपरोक्ष वह ज्ञान है जिसके उत्पन्न होने में अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती जैसे चक्षु आदि इन्द्रियों का जब सम्पर्क

घटादि से होता है तो 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होता है इसके लिए अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती यही अपरोक्ष ज्ञान है। अब अपरोक्ष की स्पष्टता में कोई सन्देह न रहे इसके लिए परोक्ष ज्ञान को भी स्पष्ट करते हैं कि जो व्यवहार के अन्तर्गत हो, विषय वस्तु सापेक्ष हो अर्थात् जिस ज्ञान के लिए हमें अन्य ज्ञान की आवश्यकता पड़े जैसे हम पर्वत पर धूम देखकर कहते हैं कि 'पर्वत वह्निमान् है' यह हम क्यों कर रहे हैं क्योंकि हमने व्यवहार में ऐसा ही देखा है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है तथा महानस आदि का उदाहरण भी पर्वत को वह्निमान समझने में अपेक्षित है क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि वह्नि जहाँ होती है वहाँ धूम भी अवश्य होता है अतः यही परोक्ष ज्ञान है<sup>[28]</sup>, जो अन्य की अपेक्षा रखता है जो इससे भिन्न है वह अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान है।<sup>[29]</sup> अब निवासाचार्य कहते हैं कि यहाँ परोक्ष की आवश्यकता नहीं थी किन्तु प्रसङ्गतावश परोक्ष का भी वर्णन कर दिया गया है।<sup>[30]</sup>

वह्नि तत्त्वरत्नाकर ने परोक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इच्छा अथवा प्रवृत्ति ही व्यवहार है, उनके इस व्यवहार का विषय व्यवहार्य कहलायेगा। 'व्यवहार्यानन्तर्गत' वस्तु विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है। उस व्यवहार्य के अन्तर्गत अर्थात् इष्टतावच्छेदक तथा इष्टभिन्न लिङ्ग तथा शब्द उनके ज्ञान से उत्पन्न होने वाला परोक्ष, अनुमान तथा शब्द ज्ञान में है अर्थात् अनुमान तथा शब्द से उत्पन्न होने के कारण यह परोक्ष है- यह अर्थ परोक्ष का हुआ।<sup>[31]</sup>

इसके साथ ही निवासाचार्य यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि प्रवृत्ति विषयतावच्छेदक सौरभादि ज्ञान-जन्य, सुरभिचन्दनखण्ड इत्यादि में परोक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसके लिए 'व्यवहार्यानन्तर्गत' पद कहा गया।<sup>[32]</sup> अनुमान में 'आदि' का प्रयोग शाब्दज्ञान के परिग्रह के लिए किया गया है।<sup>[33]</sup>

वरदविष्णु मिश्र अपने ग्रन्थ 'मानयाथात्मनिर्णय' में कहते हैं- अपरोक्षानुभूति या अपरोक्ष प्रमा 'प्रत्यक्ष' है- अपरोक्ष प्रमा से तात्पर्य है- जिसमें विशदता और सजीवता हो। विशदता और सजीवता से अर्थ है- पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणों का प्रकाशन जो कि शब्द और अनुमान में दिखने वाले जाति लक्षणों से भिन्न है।<sup>[34]</sup>

मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते हैं।<sup>[35]</sup> यह ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाणों पर आश्रित नहीं मानते हैं। यही इसका साक्षात्त्व है। यह निस्संदेह सत्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, इन्द्रियों के व्यापार पर आश्रित है किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियाँ सामान्य कारण है, जो अनुमान में भी हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साधन रूप से क्रियाशील है।<sup>[36]</sup>

अनुमान से भिन्न, प्रत्यक्ष ज्ञान का साक्षात्त्व, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान अन्य प्रमाणों के माध्यम से उत्पन्न होता है।

मेघनादारि वरदविष्णु की 'प्रत्यक्ष विशदावभास' है- इस परिभाषा का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि अवभासत्व सापेक्ष पद है, और अनुमान में भी भिन्न कोटि का अवभासत्व होता है। बुद्धि की स्पष्टता (धी-स्फुटता) भी प्रत्यक्ष की परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक धी स्फुट ही है। जहाँ तक उनका ज्ञान होता है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा ज्ञान के रूप में की जाए तो भी आक्षेपयुक्त है, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह केवल निर्विकल्प ज्ञान

के लिए ही उपयुक्त होगी जिसमें इन्द्रियों के व्यापार से विषय के विशिष्ट लक्षण अङ्कित हुए हैं, परन्तु जो सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए आगे नहीं लाए जा सके हैं।

यतीन्द्रमतदीपिका में 'श्रीनिवासाचार्य' ने प्रत्यक्ष का लक्षण "साक्षात्कारी प्रमा के करण" को कहा है [37] प्रत्यक्षप्रमाण का अनुमानादि प्रमाणों से भेद सिद्ध करने के लिए 'साक्षात्कारी' पद को प्रमा का विशेषण बनाया गया है। दूषित इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान से प्रमा की भिन्नता सिद्ध करने के लिए प्रमा पद का प्रयोग किया गया है। [38]

यहाँ स्पष्ट है कि यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने वेदान्तदेशिक के मत का अनुसरण किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण को साक्षात्कारिप्रमा का साधकतम बतलाते हैं। साक्षात्कारिणी प्रमा वह होती है, जो चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होती है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र कहते हैं 'साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा।' अर्थात् विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे साक्षात्कारी प्रमा कहते हैं। अनुमान और शब्द प्रमाण से भी प्रमा होती है। किन्तु वह साक्षात्कारिणी नहीं होती, अपितु वह अनुमिति प्रमा तथा शाब्दी प्रमा होती है। उन दोनों प्रमाओं से भिन्न प्रकार की प्रमा का साधकतम सिद्ध करने के लिए लक्षणवाक्य में साक्षात्कारी शब्द कहा गया है। ज्ञान दोषदूषित इन्द्रियों से भी उत्पन्न होता है। जैसे काचकामलादि दोष से दूषित चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत उजला भी शंख पीला प्रतीत होता है। तिमिर तथा अङ्गुल्यवष्टम्भ आदि से दूषित चक्षुरिन्द्रिय से एक ही वस्तु दो दिखने लग जाती है। किन्तु इस प्रकार के ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जा सकता है। ऐसे ज्ञानों से भी प्रत्यक्ष-प्रमाण जन्य ज्ञान की भिन्नता सिद्ध करने के लिए लक्षणों में प्रमा पद का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार के सभी लक्षणों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट होता है कि न्याय-वैशेषिकों के मत में प्रत्यक्ष केवल इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से ही प्राप्त होता है, जबकि रामानुज वेदान्त में प्रत्यक्ष अपरोक्षरूप है- जिसमें इन्द्रिय, पदार्थ और चैतन्य का सन्निकर्ष रहता है। वेदान्तदेशिक के प्रत्यक्ष के लक्षण में पूर्णता प्रतीत होती है। क्योंकि इसमें नित्य और अनित्य सभी प्रत्यक्षों का समावेश हो जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. साक्षात्कारिप्रमा प्रत्यक्षम्। न्या.परि. 1.1, पृ. 77
2. अनुमानादिषु तद्वारणाय- साक्षात्पदम्, न्या.सा. 1.1, पृ. 73
3. प्रत्यक्षभ्रमेतिव्याप्तिवारणाय-प्रमापदम्, वही, पृ. 73
4. (i) तस्यास्साक्षात्त्वनाम लैकिकत्वशाब्दत्वस्मृतिस्वरहितज्ञानत्वम्। त. मु.क., पृ. 253  
(ii) प्रतिपत्- प्रथमं पर्व (प्रतिपद्यते अनेनेति प्रतिपत्) वि.को., भाग-टप्, पृ. 213
5. न्या.सू. 1.1.4
6. इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। न तर्हि इदानीमिदं भवति, आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति? न्या.भा. 1.1.4

7. Vacaspati following his preceptor trilocana divides perception into two kinds, viz. determinate or mediate (IfoZdYid) and indeterminate or immediate (fufoZdYid) History of Indian Philosophy, 137.
8. दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्चान्नावधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा तदेतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न- मनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह, व्यवसायात्मकमिति। न्या.भा. 1.1.4, पृ. 87
9. व्यवसायात्मकपदं साक्षात् सविकल्पकस्य वाचकं, तथाहि व्यवसायो विनि श्रयो विकल्प इत्यनर्थान्तरम्। स एव आत्मा रूपं यस्य तत् सविकल्पकं प्रत्यक्षम्। तदेतदातिस्फुटत्वात् शिष्यैर्गम्यते एव इति भाष्यवार्तिककाराभ्याम् अव्याख्यातम्। न्या.वा.ता.टी. 1.1. 5, पृ. 146
10. साक्षात्कारिप्रमा प्रत्यक्षम्। न्या.परि. 1.1, पृ. 77
11. अनुमानादिषु तद्वारणाय- साक्षात्पदम्, न्या.सा. 1.1, पृ. 73
12. प्रत्यक्षभ्रमेतिव्याप्तिवारणाय-प्रमापदम्, वही, पृ. 73
13. (i) तस्यास्साक्षात्त्वनाम लैकिकत्वशाब्दत्वस्मृतिस्वरहितज्ञानत्वम्। त. मु.क., पृ. 253  
(ii) प्रतिपत्- प्रथमं पर्व (प्रतिपद्यते अनेनेति प्रतिपत्) वि.को., भाग-टप्, पृ. 213
14. बुद्धिर्द्रव्यं विकारान्वयत इतरवत्, बोद्धवच्चाजडत्वात्। त.मु.क. बुद्धिसर, पृ. 24
15. (i) ज्ञानकरण (ज्ञातकारण) जज्ञानस्मृतिस्वरहिता मतिः। न्या.परि. 1.2, पृ. 77  
(ii) उपाधिपक्षे निर्वचनप्रमाणं दर्शयति- ज्ञानेति। ज्ञानकरणकज्ञानान्यत्वे सति स्मृतिभिन्नत्वं प्रत्यक्षत्वम्। न्या.सा. 1. 2, पृ. 77
16. इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वमिति विवक्षायाम् ईश्वरप्रत्यक्षे योगिप्रत्यक्षस्य इन्द्रियाजन्यत्वपक्षे तत्र चात्याप्तिः स्यादिति, तादिदमाह- इति निष्कर्षे नाव्याप्त्यादिप्रसज्जनमिति। उक्तप्रकारेण निर्वचने नाव्याप्तेरितिव्याप्तेर्वा प्रसक्तिरित्यर्थः। वही, पृ. 77
17. अस्य प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां स्वयम्प्रकाशत्वं च सिद्धम्। प्रयोगश्च। आत्मा स्वयम्प्रकाशः, ज्ञानत्वात्। यती.दी., पृ. 178
18. सर्वत्र च प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः, पश्चान्मनसाऽनुव्यवसायः, उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसा- याभावादिति। न्या.भा. 1.1.4, पृ. 87
19. ज्ञानकरणजज्ञानस्मृतिस्वरहिता मतिरपरोक्षमिति निष्कर्षे। न्या.परि. 1.2, पृ. 47
20. तयोर्व्याप्तिपदपदार्थज्ञानजन्यत्वान्नातिव्याप्तिः। व्याप्त्यादिज्ञानस्यैव करणत्वमिति पक्षे ज्ञानकरणकभिन्नत्वं तदर्थं इति बोध्यम्। न्या.सा. , पृ. 77
21. अनुमितिशाब्दयोरितिव्याप्तिवारणाय- सत्यन्तम्। वही, पृ. 77
22. ज्ञानकरणकज्ञानान्यत्वे सति स्मृतिभिन्नत्वं प्रत्यक्षत्वम्। वही, पृ. 77
23. स्मृत्या मतिव्याप्तिवारणाय स्मृतिभिन्नत्वम्। वही, पृ. 77
24. (i) ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। त.भा., पृ. 214  
(ii) संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। त.सं., पृ. 22
25. संस्काराजन्यत्वविवक्षायां तु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेऽव्याप्तिः स्यात्। इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वमिति विवक्षायाम् ईश्वरप्रत्यक्षे

- योगिप्रत्यक्षस्य इन्द्रियाजन्यत्वपक्षे तत्र चाव्याप्तिः स्यादिति, तदिदमाह- इति निष्कर्षे नाव्याप्त्यादिप्रसञ्जनमिति उक्तप्रकारेण निर्वचने नाव्याप्तेरतिव्याप्तेर्वा प्रसक्तिरित्यर्थः। न्या. सा. 1.2, पृ. 77
26. साक्षादनुभवः प्रत्यक्षम्, साक्षात्त्वं जातिः - प्रमेय संग्रह। न्या.परि. 1.2, पृ. 77
27. अपरोक्षप्रमाध्यक्षमापरोक्षं च संविदः। व्यवहार्यार्थसम्बन्धिज्ञानजत्वविवर्जनम्” इति। न्या.परि 1.2., पृ. 77
28. पारोक्ष्यं व्यवहार्यानन्तर्गतवस्तुवेदनापेक्षा। तदनन्तर्गतलिङ्गाद्यपेक्षा (क्ष्य) पारोक्ष्यमनुमादौ।” इति। वही, पृ. 78
29. अपरोक्षप्रमाणत्वं = प्रत्यक्षप्रमाणत्वम्। न्या.सा. 1.2, पृ. 78
30. प्रसङ्गात् तत्रत्यपारोक्ष्यप्रतिपादकमानभेदमाह- पारोक्ष्यमिति। वही, पृ. 78
31. व्यवहारः - वहन्याद्यर्थप्रवृत्तिः, तद्विषयो व्यवहार्यः, तदनन्तर्गतमिष्टतावच्छेदकषट्भिन्नं लिङ्गशब्दश्च, तज्ज्ञानजन्यत्वं पारोक्ष्यमित्यर्थः। न्या.सा. 1.2, पृ. 78
32. प्रवृत्तिविषयतावच्छेदकसौरभादिज्ञानजन्ये सुरभिश्चचन्दन-खण्ड इत्यादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय- व्यवहार्यानन्तर्गतेत्युक्तम्। वही, पृ. 78
33. अनुमानादावित्यादिपदेन शाब्दज्ञानपरिग्रहः। वही, पृ. 78
34. वरदविष्णुमिश्रैः मानयाथात्मनिर्णये तु एव उक्तम्- ‘अपरोक्षप्रमा प्रत्यक्षम्’। वही, पृ. 78
35. अर्थ परिच्छेदकं साक्षात् ज्ञानम् नयद्युमणि। भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-3, पृ. 174
36. इन्द्रियाणां सत्ताकारणत्वेन करणत्वाभावात्। न्या.सार. 1.2, पृ. 78
37. साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। यती.दी., पृष्ठ 14
38. अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थं साक्षात्कारीति। दुष्टेन्द्रिय-जन्यव्यावृत्त्यर्थं प्रमेति। वही, पृ. 14